लोकतंत्र को आगे बढ़ाने में पाठ्यपुस्तकों की भूमिका

हृदय कान्त दीवान

परिचय

पिछली कुछ सदियों में लोकतंत्र के विचार ने मानव समाजों पर चर्चा को व्यवस्थित आकार दिया। यह ऐसा प्रमुख स्तम्भ है जिस पर समाज के निर्माण को सक्षम बनाने का प्रयास किया जाता है। किसी समाज में लोकतंत्र कैसे पहचाना जा सकता है, इस पर विचार करने के कई तरीक़े हैं, लेकिन कुछ ऐसी विलक्षण विशेषताएँ हैं जिन्हें लोकतंत्र के विचार के लिए महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। भारतीय संविधान की उद्देशिका में ये विशेषताएँ इस प्रकार बताई गई हैं :

क. प्रतिष्ठा और अवसर की समानता। इसका तात्पर्य समाज के कामकाज के सभी पहलुओं में भागीदारी की समानता से है।

ख. विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता। यह वाक्य सर्वव्यापी है और इसमें केवल वही शामिल नहीं है जिसे आमतौर पर धर्म और उसके अभ्यास के रूप में जाना जाता है। इन दोनों को एक साथ लेने में अन्तर्निहित है देश को बनाने वाले लोगों के समुदाय का हिस्सा होना, पर साथ ही अपने विचारों और विचारों को बनाए रखने की स्वतंत्रता।

ग. तीसरी विशेषता है सभी को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय।

घ. और अन्तिम है बन्धुता, राष्ट्र का गठन करने वाले नागरिकों के मध्य एकता की भावना।

अम्बेडकर, जिनका संविधान के लेखन की प्रक्रिया में प्रमुख स्थान था, का यह मानना था कि बन्धुता लोकतांत्रिक समाज के निर्माण के कार्य का केन्द्रबिन्दु है। बन्धुता या भाईचारे में ठोस बढ़ोतरी के बिना अन्य तीन अप्राप्य ही रहेंगे।[1] इसलिए लोकतांत्रिक नागरिक को, समानता और न्याय में विश्वास से उत्पन्न होने वाले अपने दृष्टिकोण और विचार के साथ दूसरों के अस्तित्व का सम्मान करने में सक्षम होना चाहिए। ऐसा करने से वह इस बात का विश्लेषण करने और उसे पहचानने में सक्षम होगा कि किसी स्थिति विशेष में क्या न्यायपूर्ण है और इस प्रकार वह राष्ट्र के लिए विकल्प बनाने में योगदान दे पाएगा। इसलिए, जानकारी का सार ग्रहण करने और उसका मोल पहचानने के लिए उसमें, समानुभूति महसूस करने और देश की आबादी के भीतर मौजूद विविधता की सराहना करने की क्षमता होनी चाहिए। हम शायद इस सूची में कुछ बातें और जोड़ सकते हैं या इसे कई तरीक़ों से पुनर्परिभाषित कर सकते हैं लेकिन ये एक लोकतांत्रिक समुदाय के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण है। इस लोकतांत्रिक समुदाय की चुनौतियों के लिए प्रतिक्रिया कैसे करें, इस बारे में विकल्प मुश्किल हैं, लेकिन इन सभी को इस ढाँचे के भीतर होना चाहिए।

भारतीय स्कूल, पाठ्यपुस्तकें और लोकतांत्रिक नागरिकता

भारतीय समाज और शिक्षा व लोकतंत्र के बीच के पारस्परिक प्रभाव पर विचार करते हुए हम उक्त चार बिन्दुओं को अपने दिमाग़ में रखेंगे, विशेष रूप से *बन्धुता* के पहलू को। मुख्य प्रश्न यह है कि सभी पृष्ठभूमियों और स्थितियों से आने वाले बच्चों को सहर्ष स्वीकार करने और समावेशित करने के लिए स्कूल के कार्यक्रम और पाठ्यपुस्तक कितनी सावधानी और रचनात्मक तरीक़े से बन्धुता के प्रश्न को सम्बोधित करते हैं। क्या वे गरिमा और उद्देश्य की भावना के साथ अपना प्रतिनिधित्व कर सकते हैं? क्या स्कूल के कार्यक्रम विद्यार्थियों को ऐसा एक उद्देश्य और एक सपना दे पाते हैं जिस पर वे अपने जीवन का निर्माण कर सकें?

प्रतिष्ठा और अवसर की समानता के मुद्दे को लेकर भी इसी तरह की चिन्ता है। क्या स्कूल बच्चों को समत्व महसूस करवा सकता है और किसी तरह उनके बीच समता लाने में मदद कर सकता है? क्या वह प्रतिष्ठा की असमानताओं को बदल सकता है और उन्हें समान स्तर पर ला सकता है? क्या स्कूल और पाठ्यपुस्तकों में विभिन्न पृष्ठभूमि के बच्चों को साथ मिलाने की सम्भावना है, और क्या वे उन समूहों के लिए उत्प्रेरक बन सकते हैं जो समान होने की भावना विकसित करें और उसी प्रकार से कार्य करने में सक्षम हों?

सार्वभौमिक शिक्षा और सम्भावनाओं के बारे में प्रारम्भिक अत्युत्साह पिछले पचास वर्षों में कम हो गया है और इस बारे में काफ़ी विश्वासोत्पादक ढंग से तर्क दिए गए हैं एवं अनुभवजन्य रूप से यह दिखाया गया है कि स्कूल के अनुभव, पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें : ये सभी पहले जैसी ही सामाजिक रचना को पुन: पेश करती हैं। वास्तव में स्कूल इसे स्थापित करता है और इसे मूर्त रूप देता है। स्कूल आय, प्रतिष्ठा और भूमिका के मौजूदा अन्तराल को कम करने के साथ-साथ समुदायों के बीच सम्प्रेषण के सेतुओं का निर्माण करने के अवसर प्रदान कर सकता है, यह बात शैक्षिक प्रसार के प्रारम्भिक वर्षों में नज़र आई थी, लेकिन बाद में विभिन्न प्रकार के स्कूलों में विभिन्न पृष्ठभूमि से आने वाले बच्चों के व्यवस्थित पृथक्करण द्वारा धीरे-धीरे स्कूल की प्रकृति सामने आने लगी। यहाँ तक कि इन स्कूलों में पाठ्यचर्या सम्बन्धी अपेक्षाओं और शिक्षकों के प्रयासों में भी बच्चों की पृष्ठभूमि के बीच व्यापक अन्तर के बारे में सजगता दिखाई देने लगी और वस्तुतः निचले स्तर वाले लोगों के लिए कोई उम्मीद नहीं बची। समुदाय के निचले स्तर वाले कुछ ऐसे लोग पहले भी थे और अब भी हैं, जो अगले स्तर पर पहुँच जाते हैं और अपनी वंचित पृष्ठभूमि तक सीमित रहने से बच जाते हैं। लेकिन ये दुर्लभ अपवाद हैं और भले ही उन्हें प्रणाली में सम्भावनाओं को सही ठहराने वाले मॉडल के रूप में दिखाया जाता है, लेकिन वे वास्तव में स्कूल और उसके कार्यक्रम की सामान्य वास्तविकता के लिए केवल कुछ निचले गिने-चुने उदाहरण मात्र हैं।

शिक्षा, पाठ्यपुस्तकें और समावेशन

कहने को हमारी शिक्षा प्रणाली प्रतिभा को पहचानती है पर पूर्ण रूप से नहीं और विषमता के साथ। क्योंकि वह सभी को ऊपर उठने के समान अवसर नहीं देती, और इसका उद्देश्य औपचारिक और अनौपचारिक दोनों तरह के उत्तरदायी और विभेदित कार्यबल का पुनरुत्पादन करना है। इसमें समान अवसर देने की बात है लेकिन वास्तव में विभिन्न पृष्ठभूमियों के बच्चे जिस प्रकार के स्कूलों में जाते हैं और उनकी जो प्रकृति है, जिस तरह की सामग्री उन्हें प्रदान की जाती है, जिस तरह का व्यवहार उनके साथ होता है और जिस तरीक़े से स्कूल उनके माता-पिता और समुदाय के साथ व्यवहार करते हैं – ये सारी बातें अवसरों को बहुत असमान बनाती हैं। स्कूल वंचित पृष्ठभूमि के बच्चों की भाषा और संस्कृति को तिरस्कार और अपमान की नज़र से देखते हैं, उनकी हँसी उड़ाते हैं।

स्कूल के कार्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों का उद्देश्य बच्चों में व्यवस्था के प्रति एक खौफ़ की भावना पैदा करने की कोशिश पर केन्द्रित है जो आधिपत्यपूर्ण मूल्य प्रणाली को निर्विवाद स्वीकृति प्रदान करती हैं। ये बच्चों को ऐसे व्यक्तियों में विकसित करने का प्रयास करती हैं जो लिंग, जाति और वर्ग की अपेक्षित भूमिकाओं में सही बैठते हों। जैसा कि उल्लेख किया गया है, बेशक, कुछ व्यक्तियों को बेहतर आर्थिक और पेशेवर अवसरों के साथ आगे बढ़ने के अवसर मिलते हैं, लेकिन सामाजिक समूहों में कहीं भी अवसरों की कोई बराबरी नज़र नहीं आती है। इस प्रकार शिक्षा काफ़ी हद तक असमानता को बरक़रार रखती है और उसे वैध बनाती है और इसके कारण कुछ विद्रोहियों और अतिवादियों का जन्म होता है।

और हम देखते हैं कि यही वह चीज़ है जिस पर असमानता और वर्चस्वी स्थिरता के मज़बूत समर्थक उग्र रूप से आक्रमण करते हैं। पिछले दशकों में विश्वविद्यालयों और पाठ्यपुस्तकों पर नियमित रूप से हमले हो रहे हैं; समाज में अब ये हमले और तेज़ एवं अधिक हिंसक होते जा रहे हैं और समाज को भय, चिन्ता व आत्म-केन्द्रितता से विदीर्ण कर रहे

हैं; और इन सबके पीछे यही इच्छा है कि बहिष्करण के द्वारा अधिक-से-अधिक लोगों को *अन्य* के रूप में घोषित कर दिया जाए।

पाठ्यचर्या, पाठ्यपुस्तकें और राष्ट्र

पाठ्यचर्या और पाठ्यपुस्तकें, भी राष्ट्र की अवधारणा के इस घातक प्रहार से प्रभावित हैं, जिसमें *यहाँ रहने वाले विविध लोगों* और *उनके अभ्यासों* को स्वीकार नहीं किया गया है। हाल के दिनों में सीमाओं पर केन्द्रित देशभक्ति पर अतिरिक्त ज़ोर दिया जा रहा है जिसमें अन्य देशों सहित दूसरों पर हावी होने में श्रेष्ठता और गर्व की भावना झलकती है। यह सब राष्ट्र से जुड़े होने का एहसास देता है, उन प्रतिबद्धताओं को सुनिश्चित किए बिना जो संविधान और लोकतांत्रिक नागरिकता द्वारा सुझाई गई हैं, जो संवेदनशीलता के अनुकूल हैं और इस प्रकार अन्वेषण, मुक्त अभिव्यक्ति और विकल्प चुनने के अवसर कम हुए हैं। राज्य के कामकाज की सूक्ष्म समीक्षा सम्बन्धी सभी विचार; बातचीत में लोकतंत्र के विपरीत व्यक्तिगत अनुभवों को सामने लाना – फिर चाहे वह पाठ्यचर्या में हो, पाठ्यपुस्तकों में हो, कक्षाओं में हो या परिसरों में हो – देशद्रोह के कृत्यों के रूप में माना जाने लगा है। स्कूल में आने वाले बच्चों की सामाजिक वास्तविकताओं और विविध संस्कृतियों के प्रतिबिम्बों को स्वच्छ (sanitised) किया जाता है, और अधिक-से-अधिक मध्यम वर्गीय उदारवाद के ब्रश से रंगकर उन्हें कड़वे सच से वंचित कर दिया जाता है। लेकिन इससे भी अधिक जिस चीज़ के दिखने की सम्भावना है वह है उच्च वर्गों के स्वीकार्य और उचित व्यवहार के वर्चस्वी और प्राधान्य भावना का अशिष्ट प्रदर्शन। यहाँ तक कि जिन चित्रों में बच्चों, घर, परिवार, उन्हें उपलब्ध संसाधन, उनकी पोशाक, वे क्या खेल रहे हैं या कर रहे हैं आदि दिखाए जाते हैं, वे भी अमीर, शक्तिशाली और अभिजात वर्ग को ही प्रतिबिम्बित करते हैं। पुस्तकों में उनके आचार-विचार, उनके जीवन के तरीक़ों, विश्वासों और अनुभवों को दिखाया जाता है और बहुसंख्यकों के जीवन के अनुभवों और विकल्पों को छोड़ दिया जाता है। उनके जीवन और जीने के तरीक़े और उनके रीति-रिवाज एक अपरिचित जीवन शैली के रूप में दिखाई देते हैं जो मुख्यधारा के स्कूलों के वांछित लक्ष्य से बाहर हैं और अकसर यह घृणित, अज्ञानी और परिहार्य के रूप में परिलक्षित होता है। स्कूल की पाठ्यचर्या और पाठ्यपुस्तकें शिक्षा को संवेदनाओं के विकास के रूप में स्वीकार करती हैं जो यथास्थिति को मज़बूत करने में सबसे प्रभावी हैं।

स्कूल, पाठ्यपुस्तकें और संस्कृति

बेहतर संस्कृति और इससे जुड़ी एक श्रेष्ठ भाषा के बारे में अनवरत बहस करना यथास्थिति क़ायम रखने का एक महत्त्वपूर्ण तरीक़ा है। कक्षा में बच्चों की भाषाओं को इस डर से अनुमति नहीं दी जाती है कि वे श्रेष्ठ भाषा को प्रदूषित करेंगे। बच्चों की भाषाओं और संस्कृति को स्थान देने और प्रमुख भाषा के साथ इसके मिश्रण की सम्भावना होने के डर के कारण, शिक्षित और सक्षम होने के लिए एकभाषीयता के गलत सिद्धान्त पर बनाए गए तंत्र को उचित माने जाने की माँग की जाती है। वर्तनी, उच्चारण और बेहतर लिखावट पर अत्यधिक ध्यान केन्द्रित किया गया है। एक ऐसे कार्य तंत्र में कुशल श्रमिकों के लिए इन सभी चीज़ों की आवश्यकता होती है जहाँ विचारों का विकास और निर्णय और विकल्प उन लोगों द्वारा किए जाएँगे जिनके पास शायद ऐसा करने का कौशल नहीं है। अनुलेखन करने, ग्राहकों के कॉल का जवाब देने और ऐसे ही कुछ अन्य कार्यों के लिए बड़ी संख्या में लोगों की आवश्यकता होती है जिसके लिए पुनरावृत्ति और ध्यान केन्द्रित नियम का अनुसरण करने की आवश्यकता है। फिर भी शिक्षक (शायद वे ग़लत तरीक़े से विश्वास करते आए हैं या शायद इसलिए कि यह उनकी वर्तमान पहचान का एक हिस्सा है) कक्षाओं को इस तरह से संचालित करते हैं कि विद्यार्थियों को विचारहीन दोहराव, नक़ल और उनकी संस्कृति, पहचान और भाषा के सभी पहलुओं के द्वारा उत्पीड़ित किया जाता है। स्कूल के अनुसार किसी भी बच्चे के लिए विकास का एकमात्र सही तरीक़ा यही है कि वह अपने चारों ओर की वास्तविकता से बचे और व्यक्तिगत मुक्ति के लिए अभिजात वर्ग के तरीक़ों और आचार-विचार की नक़ल करे।

नई तालीम एक विकल्प?

नई तालीम ने शिक्षा की एक वैकल्पिक परिभाषा बनाने के कुछ अप्रभावी प्रयास किए और यह निष्कर्ष निकाला कि पाठ्यपुस्तक को उस परिवेश (सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक) के साथ जोड़ना चाहिए जिसमें बच्चा बड़ा होता है और शिक्षक के साथ उसका निर्माण करना चाहिए। बाद के निरूपणों के बावजूद, नई तालीम के शुरुआती सिद्धान्तों में, बच्चे की भाषा और सम्प्रेषण की एक सामान्य भाषा का महत्त्व एक अनिवार्य तत्व था। लेकिन दुर्भाग्य से नई तालीम और सम्बद्ध विकास के सिद्धान्त आधुनिकता की आवश्यकता और राजनीतिक व आर्थिक स्थिति में बदलाव को पर्याप्त रूप से सम्बोधित नहीं कर सके। उनका विचार था कि सभी बच्चे एक साथ मिलकर विभिन्न प्रकार के हस्तकार्य अपने हाथों से करते हैं। उन्हें अपने आस-पास के परिवेश और उन मुद्दों के माध्यम से सीखना चाहिए जो उनके और उनके समुदाय के लिए प्रासंगिक हैं। समुदाय स्कूल का नेतृत्व करता है और स्कूल को बच्चे के आर्थिक, सामाजिक और भाषायी सन्दर्भ में रखा जाता है। यह सब बच्चों और समुदायों को आपस में घुलने-मिलने में मदद करेगा और शिक्षार्थियों को सार्थक रूप से अर्थव्यवस्था से जोड़ देगा, और बच्चे श्रम के सभी रूपों, अपनी भाषा, संस्कृति और अपने सम्पूर्ण अस्तित्व का सम्मान करते हुए बड़े होंगे। वे अपनी जड़ों से जुड़े रहेंगे और मृगतृष्णाओं का पीछा करते हुए ख़ुद को खो नहीं बैठेंगे। ये शायद काफ़ी महत्त्वपूर्ण पहलू हैं और अगर इन्हें भली-भाँति समाहित करना सम्भव होता तो वे न्याय और अवसर की ऐसी अवधारणा को जन्म दे सकते थे जो अधिक न्यायसंगत है।

नई तालीम के विचार ने साक्षर होने और व्यंजनापूर्ण ढंग से शिक्षित कहे जाने के बीच के अन्तर की समस्या को भी चिह्नित किया। उन्होंने चेतावनी दी कि जो शिक्षा स्कूलों ने प्रदान की, वह सत्ता और धन के लालच, शोषण की इच्छा और बाक़ी लोगों से श्रेष्ठ होने की भावना की ओर ले गई। इसने समावेशन, संवेदना, साझेदारी, सहयोग और समानता की भावना को आत्मसात करने या विकसित करने में मदद नहीं की। इसने विद्यार्थियों को नहीं बदला और न ही उनमें दुनिया को बदलने की चाह पैदा की। बल्कि इसने उन्हें अधिक उपभोक्तावादी इच्छाओं के सम्पर्क में लाने, अपने लिए अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त करने और प्रतिष्ठित स्थानों पर पहुँचने के लिए दूसरों को पीछे धकेलने में सक्षम बनाया।

कुछ लोग यह बहस भी करते हैं कि शिक्षा समानता, न्याय, मुक्ति और स्वतंत्रता को बढ़ावा देने के आग्रह का विकास नहीं करती है। भले ही समान अवसर की आवश्यकता, विचारों की अभिव्यक्ति के लिए अवसर, भावनाओं, धार्मिक सोच और न्याय के लिए तर्कसंगत कारण दिए गए हैं और विद्यार्थी उनके बारे में बहस करते हैं, उन पर चर्चा करते हैं और उनके बारे में धाराप्रवाह लिखते हैं, लेकिन उनके कार्य-कलापों में ये बातें प्रतिबिम्बित नहीं होतीं। उनके पास जो ज्ञान है, वह दुनिया में बदलाव लाने की इच्छा में तब्दील नहीं होता है। यह उन्हें अवसर की समानता, न्याय एवं अभिव्यक्ति और प्रार्थना की स्वतंत्रता के लिए काम करने के लिए प्रोत्साहित नहीं करता है। इससे भाईचारे का भाव भी नहीं बढ़ता।

इसलिए शिक्षा के सामने यह चुनौती है कि वह ऐसी सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली और पाठ्यपुस्तकों का निर्माण करे जो भाईचारे की भावना और समावेशन की भावना को विकसित करने का कठोर प्रयास करने में सक्षम हों। वे अवसर की समानता और न्याय, मुक्ति और स्वतंत्रता, विचारों की अभिव्यक्ति और प्रार्थना के सामान्य रूपों को भी किसी-न-किसी प्रकार से दर्शा सकते हैं।

क्या शिक्षा बदलाव ला सकती है?

भारत और दुनिया में पिछले पचास वर्षों से यही कोशिश की जा रही है कि सभी को शिक्षित किया जाए और फिर यह सुनिश्चित करने का दबाव भी है कि यह कार्य गुणवत्ता के साथ किया जाए। जैसा कि एन्योन (अन्य विद्वानों के कार्यों से उद्धृत करते हुए) इंगित करते हैं, विभिन्न देशों में समान अवसर की दिशा में शिक्षा और आन्दोलन की प्रगति और शिक्षा प्रणालियों और उनकी प्रक्रियाओं के संचालन की प्रकृति के विश्लेषण से पता चलता है

कि इन प्रणालियों और प्रक्रियाओं का नेतृत्व और लोगों की तैनाती इस तरीक़े से की जाती है कि उनके लिए यथास्थिति को बदलना असम्भव है। उन्होंने और कई अन्य लोगों ने तर्क दिया है कि हमें यह समझना होगा कि हम जो भी करते हैं, उसका प्रभाव सीमित ही हो सकता है। शिक्षा से कहीं अधिक प्रभाव परिवार, आस-पास के समाज और आर्थिक आवश्यकताओं से पड़ता है। अगर बच्चों में समावेशन और अवसर की समानता की भावना विकसित करनी है तो सामाजिक और राजनीतिक व्यवहार में बदलाव की आवश्यकता है।

बच्चे स्कूल में इतने कम समय के लिए रहते हैं कि पाठ्यपुस्तकों के एक सेट के माध्यम से समानता को दर्शाना आसान नहीं है, वह भी जब अधिकतर सामाजिक प्रक्रियाएँ, रीति-रिवाज और अधिकतर उपलब्ध साहित्य संकलन, मुख्य रूप से स्वयं के लिए श्रेष्ठता और बाक़ी लोगों के लिए तिरस्कार की भावना को प्रोत्साहित करते हैं। अभिव्यक्ति और धार्मिक अभ्यास की स्वतंत्रता और स्वाधीनता के लिए समानुभूति तथा विनम्रता की आवश्यकता होती है और साथ ही यह भी आवश्यक है कि बच्चों को सुना जाए और उन्हें अपनी सोच और विचारों का पता लगाने के लिए अवसर प्रदान किए जाएँ। उन्हें एक ऐसा स्थान चाहिए जहाँ वे अपने मन की बात कह सकें और सीखने और सोचने के लिए प्रोत्साहन प्राप्त कर सकें। ग़लत होने पर भी उन्हें इस बात के लिए कारण दिए जाने चाहिए कि वे जो सोचते हैं उसे वे क्यों बदलें। केवल निष्पक्ष बातचीत के माध्यम से ही वे अन्य विचारों के महत्त्व को सीख सकेंगे। यह केवल तब हो सकता है जब उनको, उनके विचारों और कल्पना-शक्ति को गम्भीरता से लिया जाए, उनमें दिलचस्पी दिखाई जाए और उन पर तर्कसंगत बातचीत और धैर्य के साथ काम किया जाए, तभी वे इस तरह के आदान-प्रदान के उद्देश्य को समझ पाएँगे। स्कूल, पाठ्यपुस्तकें और आस-पास का परिवेश बचपन को जिस तरह से प्रतिबिम्बित करता है और उसके साथ पेश आता है, उसका पुनः परीक्षण करना आवश्यक है। बच्चों में दूसरों के लिए सम्मान और सरोकार की भावना का विकास तब तक नहीं हो सकता है जब तक वे स्वयं सम्मानित महसूस नहीं करते, दूसरों को सम्मानित होते हुए नहीं देखते और यह नहीं देखते कि दूसरों का ख़्याल रखा जा रहा है।

वर्तमान पाठ्यपुस्तकें और चुनौतियाँ

भारत में पाठ्यपुस्तकें हमेशा से आधिपत्य और विषम रही हैं, जिनमें जीने का एक वांछनीय और आकांक्षापूर्ण अभिजात तरीक़ा प्रतिबिम्बित होता है। वे अपनी विषय-सामग्री से अधिकांश बच्चों को गूढ़ और कभी-कभी काफ़ी भद्दे तरीक़ों से बहिष्कृत कर देती हैं। मैं केवल कुछ सामान्य उदाहरण दूँगा :

* *वह ग़रीब था पर ईमानदार था।*

इसी तरह - *आदिवासी जंगल में रहते हैं और कन्द-मूल खाते हैं।*

या *लड़की होते हुए भी वह लड़कों के सब खेल खेलती थी।*

या *लड़की होते हुए भी बहादुर थी।*

दीवाली भारत का त्यौहार है और ईद हमारे मुसलमान भाई मनाते हैं।

इसके अलावा राजाओं और उनकी लड़ाइयों की कहानियाँ और उनके साहस से परिपूर्ण मिथक व कथाएँ इन पुस्तकों में बिखरी हुई हैं, जिनमें इस प्रकार के संदेश सूक्ष्मता से छिपे हुए हैं कि युद्ध में हारने पर उन्हें नाहक कितने कष्टों से गुज़रना पड़ा। कभी-कभी ऐसा वर्णन किया जाता है कि वे इतने दुर्भाग्यशाली थे कि उनके पास खाने के लिए केवल सूखी रोटी हुआ करती थी। एक ऐसे देश में यह सब कहना निहायत असमता वाली बात लगती है जहाँ स्कूलों में मध्याह्न भोजन बच्चों का जीवन बचाने और अति कुपोषण को रोकने का एक साधन है।

इसके अलावा सामान्य रूप से पाठ्यपुस्तकें अमीर और शक्तिशाली लोगों के प्रति बहुत मेहरबान होती हैं और उन्हें आमतौर पर अच्छे, दयालु और उदार लोगों के रूप में चित्रित किया जाता है, ग़रीबी व असमानता, बहुसंख्यकों पर अमीरों द्वारा किए गए अन्याय, आतंक और शोषण पर चर्चा करना पसन्द नहीं किया जाता। पाठ्यपुस्तक जातिगत भेदभाव के वास्तविक उदाहरणों या उन तरीक़ों के

बारे में बात नहीं कर सकती हैं जिनमें लोगों और संसाधनों का शोषण किया जा रहा है। वे ग़रीबी और लोगों के अभाव या अपनी स्थिति में सुधार के लिए उनके संघर्ष को नहीं दर्शाती हैं, केवल राज्य के अपने एजेंडा को आगे बढ़ाने के लिए संदेश देने का साधन हैं। सत्ता बदलने पर जब पाठ्यपुस्तकों पर मतभिन्नता होती है तो उनमें किए जाने वाले परिवर्तन संस्कृति और इतिहास के कुछ ऊपरी तत्वों तक सीमित रहते हैं। ज्ञान का चयन और इसकी प्रस्तुति के तरीक़े सहित बाक़ी सारी जानकारी अपरिवर्तित ही रहती है। ऐसे विकल्प का निर्माण करने का कोई प्रयास नहीं किया जाता जो किसी-न-किसी तरह से समुदाय के ज्ञान का उपयोग करता हो, यहाँ तक कि उसकी सत्यता की जाँच और परीक्षण करने के लिए भी नहीं। लोकतंत्र के कामकाज में अधिक-से-अधिक भागीदारी और सभी पृष्ठभूमि के बच्चों की समावेशी भागीदारी की दिशा में प्रयास करने की सम्भावना गौण और धुँधली पड़ जाती है।

अधिकांश बच्चों की वास्तविकताओं के बारे में किसी भी प्रकार का कोई सार्थक प्रतिनिधित्व न होने के कारण पाठ्यपुस्तकों और स्कूलों के पास ग़ैर-कुलीन बच्चों को अनुकरणीय व्यक्ति (रोल मॉडल) के रूप में दिखाने या उन्हें अपने या अपने समुदाय में पहचान और गौरव की भावना का निर्माण करने में मदद करने का कोई तरीक़ा नहीं है। उन बच्चों के मन में आशा और उद्देश्य की किसी भी भावना का निर्माण नहीं करतीं और न ही उन्हें अपने जीवन के संकीर्ण दायरे के बाहर की भूमिकाओं और सम्भावनाओं की कल्पना करने और सपने देखने में मदद करती हैं। और यही नहीं पाठ्यपुस्तकों को एक़दम सही, राजनीतिक रूप से अनुकूल और अप्रभावी होना चाहिए या दूसरे शब्दों में कहें तो उन्हें यथास्थिति बनाए रखने में सहायता करनी चाहिए। वे न तो वैकल्पिक दृष्टिकोण दर्शा सकती हैं और न ही हावी होने वाले पर सवाल उठा सकती हैं। इस अर्थ में वे आलोचना और तर्क के महत्त्वपूर्ण तत्व को प्रदान करने में विफल हैं जो लोकतांत्रिक नागरिकता का आवश्यक घटक है। विषय-सामग्री का निर्माण करते समय उससे सम्बन्धित नियमावली, कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं, के विकास का प्रयास करने का परिणाम यह होता है कि वास्तविकता के किसी भी चित्रण की बहुत यंत्रवत छनाई (फ़िल्टरिंग) और छँटाई होती है। इसके साथ ही विद्यार्थियों के वास्तविक एवं जीवन्त अनुभवों के बारे में बातचीत करने की कोई भी सम्भावित आशा बची नहीं रह पाएगी।

आगे का मार्ग और पीछे देखना

ऐसा कहते हुए भी मैं इस ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि पिछले चार दशकों में पाठ्यपुस्तकों को पुनः आकार देने के लिए गम्भीर प्रयास किए गए हैं। इन प्रयासों ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि इसका कुछ अंश बच्चों के जीवन में घटित अनुभव से निर्मित किया जाना चाहिए, उनमें बच्चों और शिक्षकों को उन कहानियों और कार्यों को रचने की अनुमति दी है जिनका वे अध्ययन करना चाहते हैं, समुदाय को अपने अनुभवों को साझा करने का अवसर दिया है। यह कोशिश भी की गई है कि ऐसी केस स्टडीज़ और कहानियाँ प्रस्तुत की जाएँ जो कुछ हद तक चिन्तनात्मक हों और स्थिति की वास्तविकता की हल्की आलोचना भी करती हों, चित्रों और नामों में बच्चों की विविधता को शामिल किया जाए, घर और बाहर दोनों ही जगहों पर बहुत अधिक काम करने वाली महिलाओं के प्रति संवेदनशील होने का सुविचारित प्रयास भी हुआ है, महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के आस-पास हास्य का निर्माण किया गया है, अधिक कठोरता से परीक्षण की गई ऐसी जानकारी और कार्य दिए गए हैं जिन्हें बच्चे अपने दम पर कर सकें आदि।

पर ऐसा नहीं है कि ये प्रयास केवल आगे ले जाते हैं और लोकतांत्रिक वार्तालापों के लिए अधिक समावेशन, अधिक सन्दर्भ और अधिक स्थान की ओर बढ़ते हैं। वे विभिन्न हस्तक्षेपों के माध्यम से पलटे और बदले जाते हैं। यह बात भी माननी होगी कि किताबों में इन बातों को स्थान देने के बावजूद उन्हें अकसर नज़रअन्दाज़ कर दिया जाता है या सक्रिय रूप से उनका प्रतिरोध और विरोध किया जाता है। एक लोकतांत्रिक स्कूल कार्यक्रम की चुनौती केवल उचित रूप से विषय-सामग्री का निर्माण करना नहीं है, परन्तु उससे भी अधिक

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ऐसे शिक्षक और ऐसी प्रणाली हो जो इस परियोजना को समझे, इससे सहमत हो और इसके साथ समानुभूति रखे। यदि प्रणाली, विशेष रूप से मूल्यांकन को शामिल करने वाली प्रणाली, हावी होने वाले प्रमुख परिप्रेक्ष्य और ज्ञान को ही सही मानकर उसे महत्त्व देना चाहती है, और इस प्रक्रिया में अधिकांश बच्चों की मौजूदा संस्कृति, ज्ञान और भाषा की अनदेखी और उपहास करना चाहती है तो फिर ऐसा कोई तरीक़ा नहीं है जिसमें अत्यन्त सावधानी से बनाई गई समावेशी पाठ्यपुस्तकें भी, जो कई दृष्टिकोणों और महत्त्वपूर्ण चर्चाओं को समायोजित करने की कुछ सम्भावनाएँ दर्शाती हैं, लोकतांत्रिक कक्षाओं का निर्माण कर पाएँ।

हमें कैसी पाठ्यपुस्तकों की आवश्यकता है?

व्यक्तिगत मुक्ति या पलायन के एक उद्यम के रूप में शिक्षा के वर्तमान दृष्टिकोण को चुनौती देने के लिए जो चीज़ आवश्यक है वह है शिक्षा के सामूहिक और समतावादी उद्देश्य की दृष्टि से रची गई ऐसी पाठ्यपुस्तकें जो सहयोग का निर्माण करें और उसी तरीक़े से लागू भी की जाएँ। यदि शिक्षा प्रतिस्पर्धात्मक रूप से व्यवस्थित हो और उसे एक छलनी, एक दौड़ और जीवित रहने की लड़ाई के रूप में कार्य करने के लिए संरचित किया जाए ताकि उसके बाद अधिकतम संसाधनों, अधिकार, शक्ति और सुख-साधनों पर क़ब्ज़ा किया जा सके तो फिर वह कभी समावेशी, भाईचारे की भावना वाली, भगिनीवत या पारिवारिक और लोकतांत्रिक नहीं हो सकती।

पाठ्यपुस्तकों को शिक्षकों और बच्चों की इस बात में मदद करनी चाहिए कि वे समाज की बुराइयों, लालच, उपभोक्तावादी इच्छाओं, बहिष्करण, दूसरों के लिए तिरस्कार, चिन्ता और भय, अन्य समुदायों या पृष्ठभूमि के लिए तर्कहीन प्रतिक्रिया, असंयम, लैंगिक भेदभाव, हिंसा आदि की जाँच कर सकें। इनकी जाँच करने के लिए पहले इसे प्रस्तुत करके और फिर इन पर चर्चा करने की आवश्यकता है। ऐसी सभी 'बुराइयों' को समाप्त करके पाठ्यपुस्तकों को स्वीकार्य बनाने का मतलब है स्कूल को अप्रभावी बनाना। यहाँ तक कि उसे मौजूदा मामलों को चुनौती देने की सम्भावना के रूप में भी नहीं देखा जा सकता। इस प्रकार पाठ्यपुस्तकों को यथार्थवादी होना चाहिए और ध्यान से ऐसी स्थितियों को प्रस्तुत करना चाहिए जिसमें चर्चा के लिए गुंजाइश हो। उन्हें व्यावहारिक होना चाहिए ताकि वे केवल वर्तमान में सहायक राय और मान्यताओं को इस हद तक चुनौती दें कि स्कूल और शिक्षक इसे उस बिन्दु तक ले जा सकें। जैसे-जैसे समय उपयुक्त होता जाएगा वैसे-वैसे वर्तमान स्थितियों के लिए चुनौती की सीमा एवं प्रकृति और लोकतंत्र व समावेशन के विचारों पर चर्चाओं को शामिल करना अधिक-से-अधिक प्रभावी हो सकता है। चुनौती के रूप में इस बात का ख़तरा सामने है कि स्वाधीनता, स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के लिए राजनीतिक और सामाजिक चुनौतियों के बढ़ने से कहीं यह सब पुराने रूपों की ओर वापस न चला जाए।

References

Anyon,J, (2011), Marx and Education, Routledge, New Delhi; Gandhi,MK, Towards New Education,Kumarappa Bharatan (1953), Navjivan Mudralaya, Ahmedabad

Dewan, HK and Dewan S, Socio-cultural Factors and Challenges-Poor Learning Among Socially Marginalised Children Conference, New Delhi (2016).

Henrich J. (2015). The Secret of Our Success: How Culture Is Driving Human Evolution, Domesticating Our Species, and Making Us Smarter New Jersey: Princeton University PressSadgopal A. Between question and clarity. New Delhi: Granth shilpi

NCERT (2005). National Curricular Framework. New Delhi: NCERT

NCERT (2005). Position paper on Work and Education. New Delhi: NCERT

Nirantar. (2009). Text Book Regimes - a feminist critique of nation and identity, New Delhi: Nirantar

Jain S. (2017 Rajasthan Textbooks Revised to Glorify Modi Government, The Wire.). https://thewire.in/education/rajasthan-textbooks-revised-glorify-modi-government

Shreya. (2019). BJP's major achievement in Rajasthan: Rewriting school textbooks to reflect RSS worldview, Scroll.in Sunday, February 10th 2019

Shreya. (2018). Inspired by the RSS, dictated by BJP minister: The inside story of Rajasthan's textbook revisions Scroll.in Sunday Nov 15, 2018

Kumar S.(2017). https://www.indiatoday.in/india/story/maharana-pratap-not-akbar-won-battle-of-haldighati-rajasthan-history-book-1026240- 2017-07-25, July 2017

Sadgopal A. Between question and clarity. New Delhi: Granth shilpi

Sykes M. (1987). - The Story of Nai Talim: Fifty Years of Education at Sevagram; 1937-1987. Wardha: Sevagram.

Tomasello M. (2014). A Natural History of Human Thinking. Boston: Harvard University Press

Ambedkar B.R. (1949). Constituent Assembly Debates, Vol XI, 25 Nov. 1949, p. 979, as cited in Narrrain Arvind for Mool Prashan issue 1 on Constituent assembly debates, 2017, Udaipur (available in hindi)

हृदय कान्त दीवान वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के अनुवाद पहल में कार्यरत हैं। वे एकलव्य के संस्थापक समूह के सदस्य और विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर के शैक्षिक सलाहकार रहे हैं। वे पिछले 40 वर्षों से शिक्षा के क्षेत्र में विभिन्न प्रकार से और विभिन्न पहलुओं पर काम कर रहे हैं। विशेष रूप से वे शैक्षिक नवाचार और राज्य की शैक्षिक संरचनाओं के संशोधन के प्रयासों से जुड़े रहे हैं। उनसे hardy.dewan@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।

अनुवाद : नलिनी रावल **पुनरीक्षण :** प्रीति मिश्रा **कॉपी एडिटर :** कामिनी उपाध्याय